

अध्याय 2

परमेश्वर और पवित्र त्रिएकता

1. सिर्फ मात्र एक ही, जीवित और सच्चा परमेश्वर है, जो अपने अस्तित्व और सिद्धता में असीमित है। सर्वश्रेष्ठ, शुद्ध आत्मा, अदृश्य, बिना शरीर के, बिना अंग और लालसा के है। वह अपरिवर्तनीय, अति उत्तम, समझ से परे, सर्वसामर्थी, अति बुद्धिमान, अति पवित्र, अति स्वतंत्र, अति सम्पूर्ण है। वह अपनी अपरिवर्तनीय और धर्मी इच्छा के अनुसार सभी कार्य अपनी महिमा के लिए करता है।

वह बहुत प्रेमी, अनुग्रहकारी, दयालु, धैर्यवान, भलाई और सच्चाई से परिपूर्ण, अपराध, पाप और बुराई को क्षमा करने वाला है। जो प्रसन्नता से उसे खोजते हैं वह उन्हें प्रतिफल देने वाला परमेश्वर है। इसके अतिरिक्त सच्चा न्यायी है, और जो पाप के अपराध से लिप्त है उनके लिए भयावह न्यायकर्ता है।

2. परमेश्वर अपने आप में पूर्ण जीवन, महिमा, भलाई, सद्गुण, आशीष है और अपने आप में पूर्ण पर्याप्त है, जिसे अपनी बनाई हुई सृष्टि की आवश्यकता नहीं है। न ही उनसे कोई महिमा (अपने लिए) आवश्यक है, परंतु वह अपनी महिमा इनमें और इनके द्वारा प्रगट करता है। सिर्फ वह ही ऐसा झरना है जिसमें जिसके द्वारा और जिसमें सब कुछ है और उन पर अति प्रभुता, अधिकार करता है, कि उनसे, उनके लिए, उन पर अपनी पसन्द से प्रभुत्व रखता है। उसकी दृष्टि से सभी कुछ खुला और प्रगट है। उसका ज्ञान असीमित है, अडिग है और सृष्टि पर आश्रित नहीं है। कुछ भी उसके लिए अनिश्चित और अचानक नहीं है। वह अपनी इच्छा, अपने कार्य और अपनी सभी आज्ञाओं में पूर्ण पवित्र है।

उसको (परमेश्वर), सभी स्वर्गदूत, मनुष्य और अन्य सभी सृष्टि से आराधना, सेवा, आज्ञाकारिता का अधिकारी है जिससे वह प्रसन्न होता है।

परमेश्वर की एकता में तीन व्यक्तित्व, जो एक समान तत्व, सामर्थी, अनन्तकालीन है, पिता परमेश्वर, पुत्र परमेश्वर और परमेश्वर पवित्र आत्मा, एक है। पिता किसी का नहीं, न ही इकलौता, न ही अग्रसर है। पुत्र अनन्तकाल से पिता का प्रिय, इकलौता है। पवित्र आत्मा अनन्तकाल से पिता और पुत्र से अग्रसर है।

अध्याय 3

परमेश्वर की अनन्तकालीन-इच्छा (फैसला)

1. परमेश्वर ने आदि से ही अपनी अति बुद्धिमत्ता और अपनी इच्छा की पवित्र योजना में, स्वतंत्रता और अडिग इच्छा के द्वारा सब कुछ ठहराया जो घटित होता है। इसका कदापि यह अर्थ नहीं, कि परमेश्वर पाप का कर्ता है, या मनुष्य में (सृष्टि) में उग्रता प्रदान करता है। न ही कुछ आकस्मिक होता है, दूसरी वजह को हटाना नहीं वरन् स्थापित किया है।

2. यद्यपि परमेश्वर को हर परिस्थिति में जो होता है, या हो सकता है, सब कुछ ज्ञात है। लेकिन उसने कुछ भी इसलिए नहीं ठहराया, कि उसने पहले से ही भविष्य को जाना, देखा है अथवा जानता है, कि विशेष परिस्थिति में क्या घटित होगा।
3. परमेश्वर ने अपनी महिमा को प्रगट करने के लिए यह फैसला किया, कि कुछ मनुष्य और स्वर्गदूतों को उसने पहले से अनन्त जीवन के लिए नियुक्त किया और दूसरों को पहले से अनन्त मृत्यु के लिए ठहराया/नियुक्त किया।
4. ये स्वर्गदूत और मनुष्य जिन्हें पूर्व निर्धारित और पहले से ठहराया गया, निश्चयता और अडिगता में बनाये गये और उनकी संख्या पक्की और निश्चित है जो न तो बढ़ और न घट सकती है।
5. उन मनुष्यों को जिन्हें पहले से जीवन के लिए ठहराया/नियुक्त किया, संसार की उत्पत्ति से पहले, परमेश्वर ने अपनी अनन्त और अपरिवर्तनीय उद्देश्य और अपनी स्वतंत्र और भली इच्छा के द्वारा मुक्त अनुग्रह और प्रेम चुन लिया। पहले से विश्वास देखे बिना, अथवा अच्छे कार्य और उनमें कोई दृढ़ता और अन्य ऐसी कोई बात जो उसकी रचना में, जो शर्त और वजह हो जिससे वे इस चुनाव को प्राप्त करें, के बिना उन्हें चुन लिया। ये उसका मात्र अनुग्रह और प्रेम है। इस सबके लिए उसके महिमायुक्त अनुग्रह की स्तुति हो।
6. जिस प्रकार परमेश्वर ने चुने हुए लोगों को महिमा के लिये पहले से ठहराया, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी इच्छा से, अनन्तकालीन और स्वतंत्र उद्देश्य से, सभी साधन पहले से ठहराये जिससे वे जो चुने गये हैं, आदम में पतित हुए, लेकिन यीशु के द्वारा प्रभावी ढंग से पवित्र आत्मा के द्वारा समय पर यीशु मसीह के विश्वास में बुलाए गये, और पवित्र आत्मा द्वारा धर्मी ठहराए, दत्तक लिए गये, पवित्र किये गये और सामर्थ के द्वारा संभाले गये, विश्वास के द्वारा उद्धार के लिए नियुक्त हुए।
चुने हुए लोगों के अतिरिक्त कोई भी यीशु मसीह के द्वारा छुड़ाए नहीं गये, न ही प्रभावी ढंग से उद्धार के लिये बुलाए गये, धर्मी, दत्तक अथवा पवित्र किये गये, सिर्फ चुने हुए लोगों को छोड़कर।
7. परमेश्वर अपनी स्वतंत्र इच्छा की योजना के अनुसार, शेष मनुष्य में परमेश्वर को भला लगा, कि वह अपनी इच्छा के अनुसार, अपनी महिमा और प्रभुता, अपनी सृष्टि पर, अपनी इच्छा से अपनी दया प्रदान करें अथवा न प्रदान करें, और उन्हें उनके पाप के लिये अनादर और क्रोध के लिए ठहराया/नियुक्त किया ताकि उसके महिमामय न्याय की स्तुति हो।

8. पूर्व निर्धारित की गहरी रहस्यभरी सिद्धान्त को पूरी समझ और सुरक्षा से समझने/देखने की आवश्यकता है। लोग जो परमेश्वर की इच्छा, जो वचन में प्रगट की गई है, उसमें बने रहने और उसकी आज्ञा मानने में उसकी इच्छा को महत्व देते हैं, कि पूर्ण निश्चिता के साथ अपने अनन्त चुनाव के प्रति आश्वस्त हों। इसलिए यह सिद्धान्त शिक्षा-स्तुति, आदर और परमेश्वर की प्रशंसा के योग्य है और जो सुसमाचार मानते हैं, उनके लिए नम्रता, भलाई और भरपूरी की शांति है।

अध्याय 4

सृष्टि

1. परमेश्वर पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा को ये अच्छा लगा, कि अपनी अनन्त सामर्थ, बुद्धि और भलाई/सद्गुण की महिमा के प्रगटीकरण के लिए, उसने आदि में कुछ नहीं से संसार और जो कुछ इसमें है, जो दिखता और अदृश्य है, छः दिनों में बनाया।
2. परमेश्वर ने सभी जीवों/प्राणियों के बनाने के बाद मनुष्य को पुरुष और स्त्री करके तर्क वितर्क और अविनाशी आत्मा की योग्यता में बनाया और उन्हें ज्ञान, धार्मिकता और सच्ची पवित्रता में अपनी समानता में बनाया, परमेश्वर की व्यवस्था उनके हृदय पर लिखी थीं और उनमें इसे पूरा करने की सामर्थ थी, फिर भी संभावना में कि अपनी इच्छा की स्वतंत्रता जो परिवर्तनीय है, में वे व्यवस्था को तोड़ सकते थे, अपनी स्वतंत्रत इच्छा का दुरुपयोग करके, व्यवस्था उनके हृदय पर लिखी थी इसके अलावा परमेश्वर ने उन्हें आज्ञा दी, कि वे भले और बुरे ज्ञान के वृक्ष से न खाए, जब तक उन्होंने इस आज्ञा को माना वे परमेश्वर की संगति में खुश थे और अन्य जीवों पर प्रभुता की।

अध्याय 5

परमेश्वर की कृपा दृष्टि

1. परमेश्वर, महान सृष्टिकर्ता, अपनी महिमा, बुद्धिमत्ता, सामर्थ, सद्गुण, भलाई और दया की महिमा के लिए, सभी प्राणियों को स्थिरता, अगुवाई, संभालता है और सभी प्राणियों (बड़े से छोटे) के कार्यों पर अपनी अति बुद्धिमत्ता और पवित्र कृपादृष्टि से अपने अडिग पूर्व ज्ञान और स्वतंत्र और अपरिवर्तनीय इच्छा से प्रभुता करता है।
2. यद्यपि परमेश्वर के पूर्व ज्ञान के फैसले से, सर्वप्रथम सभी बातें पूर्ण अडिगता और अपरिवर्तनीय रीति से घटित होती, फिर भी उसी कृपादृष्टि से वह उन्हें द्वितीय वजह के अनुसार अनिवार्य, स्वतंत्र अथवा आकस्मिक रीति से घटित करता है।
3. परमेश्वर अपनी साधारण सुरक्षा (कृपादृष्टि) में साधनों का इस्तेमाल करता है। फिर

भी वह उनके बिना, ऊपर और उनके विरोध में अपनी खुशी से, कार्य करने के लिए स्वतंत्र हैं।

4. परमेश्वर की असीमित सामर्थ, अति बुद्धिमत्ता और असीमित भलाई/सद्गुण, उसकी कृपा दृष्टि/सुरक्षा में अपने आप प्रगट होती है। यहाँ तक आदम के पतन और स्वर्गदूतों और मनुष्य के पाप में भी नजर आती है, जिसका कदापि अर्थ नहीं कि वह इसकी अनुमति देता है। परंतु उसने इसके साथ अति बुद्धिमत्ता और सामर्थी एकता को जोड़ा है और कई समय/कालों पर अपनी पवित्र उद्देश्य के लिए उन पर प्रभुता करते हैं। इसलिये पाप सृष्टि के प्राणियों से आगे बढ़ता है, न कि परमेश्वर से, जो अपने अस्तित्व में अति पवित्र, और धर्मी है, जो किसी भी तरह पाप का कर्ता और इसको मान्यता नहीं देता।
5. अति बुद्धिमान, धर्मी और अनुग्रहकारी परमेश्वर कई बार अपनी संतान को कुछ समय के लिए परीक्षा और उनके हृदय की भ्रष्टता पर छोड़ देता है, कि उनके पहले के पापों का दण्ड दे और उनमें भ्रष्टता और हृदय के धोखे की छिपी हुई ताकत को प्रगट करे, ताकि वे नम्र बने, और वे ज्यादा नज़दीकी और निरन्तरता में सहायता के लिए उस (परमेश्वर) पर निर्भर हो, और वे भविष्य में पाप के विरोध में और हर प्रकार से उचित और पवित्र अन्त के लिए जागरूक हो।
6. दुष्ट और भ्रष्ट लोगों को, जिन्हें परमेश्वर ने एक धर्मी न्यायी के रूप में उनके पहले पापों के प्रति अन्धा और कठोर किया, उन्हें सिर्फ अपने अनुग्रह से वंचित किया, कि कहीं ऐसा न हो कि वे अपनी समझ में प्रकाशित हो और अपने हृदय को तैयार करें, वरन् कई बार उनसे उन वरदानों को भी अलग कर दिया और उन्हें भ्रष्टता, पाप को अवसर देने वाली परिस्थिति के अधीन किया, इसके अतिरिक्त उन्हें उनकी अभिलाषाओं, संसार की परीक्षाओं और शैतान के हाथों में छोड़ दिया, जिससे ऐसा हो कि उन्होंने अपने हृदय को कठोर किया, यहाँ तक उन परिस्थितियों और मौकों (साधनों) में जिसे परमेश्वर दूसरों का हृदय नम्र करने में इस्तेमाल करता है।
7. साधारणतः परमेश्वर की कृपादृष्टि सभी प्राणियों तक पहुँचती है, लेकिन विशेष रूप से यह कलीसिया की देखभाल करती है, और उसकी भलाई के लिए सब अच्छी बातें प्रदान करती है।

अध्याय 6

मनुष्य का पतन, पाप और उनका दण्ड

1. हमारे पहले आदि माता-पिता, शैतान के द्वारा चतुराई से परीक्षा में पड़कर पथ भ्रष्ट होकर, मना किये हुए फल को खाकर उन्होंने पाप किया। परमेश्वर ने अपनी बुद्धि

और पवित्र इच्छा में उन्हें यह पाप करने दिया, ताकि इसके द्वारा वह अपनी महिमा निर्धारित करे।

2. इस पाप के द्वारा, वे अपनी वास्तविक धार्मिकता और परमेश्वर की उपस्थिति/संगति से पतित हो गये और पाप में मर गये और अपने शरीर और आत्मा को पूर्णता दोषी/दूषित कर लिया।
3. वे सभी मनुष्य का स्रोत होते हुए, इस पाप का दोष और पाप में मृत्यु और भ्रष्ट स्वभाव, उनसे उनके आने वाली सभी वंशजों/मनुष्य जाति में फैल गया।
4. इस वास्तविक भ्रष्टता के द्वारा, हम पूर्णता अव्यवस्थित, अयोग्य, अच्छाई के विरोध में और बुराई की तरफ अग्रसर हुए और वास्तविक पाप को और बढ़ाते गये।
5. इस जीवन में यह भ्रष्ट स्वभाव, जो नया जीवन प्राप्त करते हैं उनमें भी बना रहता है। यद्यपि वे मसीह के द्वारा क्षमा किये और नियंत्रित होते हैं। फिर भी अपने आप में और सभी कार्यों में सत्यता में पाप में है।
6. सभी पाप दोनों, सर्वप्रथम और वास्तविक पाप परमेश्वर की धार्मिकता की व्यवस्था का उल्लंघन है, इसलिये स्वभाव से वह पापी पर दोष लगाता है, जिससे वह परमेश्वर के क्रोध और व्यवस्था का श्राप अपने ऊपर लाता है और वह सारे आत्मिक, अस्थायी और अनन्तकालीन दुःखों के साथ मृत्यु के आधीन है।

अध्याय 7

मनुष्य के साथ परमेश्वर की वाचा

1. परमेश्वर और प्राणियों के बीच की दूरी बहुत विशाल है। यद्यपि प्राणी उसको सृष्टिकर्ता के रूप में मान्यता देते हुए आज्ञा मानते हैं। फिर भी वे पुरस्कार के रूप में उससे मनवांछित फल (पुरस्कार) नहीं पाते, परंतु परमेश्वर अपनी स्वतंत्र, विनीत भाव से जिसे उसने अपनी भली इच्छा में वाचा के माध्यम से प्रगट किया है प्रदान करता है।
2. पहली वाचा जो परमेश्वर ने मनुष्य के साथ बनायी वह कार्य की वाचा थी, जिसमें आदम को जीवन और सफलता का वादा परिपूर्ण और व्यक्तिगत आज्ञा मानने पर मिला।
3. मनुष्य ने पाप में गिरने के द्वारा, अपने आप को इस वाचा के जीवन से अयोग्य बना डाला, परमेश्वर ने अपनी भली इच्छा में दूसरी वाचा, जिसे अनुग्रह की वाचा कहा जाता है स्थापित की। जिसमें उसने पापियों को जीवन और उद्धार यीशु मसीह में प्रस्तुत किया, कि वे उसमें विश्वास से उद्धार पायें, और जो अनन्त जीवन के लिए ठहराये गये, उन्हें पवित्र आत्मा देने का वादा किया, ताकि उनमें इच्छा उत्पन्न हो और वे विश्वास करने योग्य बन जाए।

4. अनुग्रह की वाचा बार-बार पवित्र शास्त्र में वसीयत/नियम के नाम से, प्रभु यीशु मसीह वसीयत करने वाले की मृत्यु के सन्दर्भ और अनन्त कालीन वारिस के रूप में प्रस्तुत की गई है। सभी उनकी है जो वसीयत में देने वाले की थी।
5. यह वाचा, व्यवस्था और सुसमाचार के समय अलग-अलग प्रकार से क्रियान्वित हुई। व्यवस्था के समय यह वायदे, भविष्य, बलिदान, खतना, मेम्ने का बलिदान और दूसरी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान, यहूदी लोगों के करने के द्वारा क्रियान्वित हुई। यह वाचा आने वाले मसीह की ओर देखते हुए, अपने समय पर प्रयाप्त और प्रभावी थी। परमेश्वर ने पवित्र आत्मा के द्वारा चुने हुओ से वायदे किये, मसीह में चेतावनी और मजबूत किया जिससे उन्हें पूर्ण पापों का प्रायश्चित और अनन्त उद्धार प्राप्त हुआ, इसे पुरानी वसीयत/पुराना नियम कहा जाता है।
6. सुसमाचार के समय जब यीशु प्रगट हो गया। धार्मिक अनुष्ठान जिससे वाचा प्रदान की जाती है, वचन का प्रचार, बपतिस्मा और प्रभु भोज संस्कार का दिया जाना है, जो संख्या में कम और सादगी से दिया जाता है, जिसकी बाहरी महिमा कम है फिर भी इसमें ज्यादा सम्पूर्णता, प्रमाण और आत्मिक प्रभाव, सभी देश, यहूदी और अन्य जातियों के लिए है। इसे नया नियम/वसीयत कहा जाता है। इसलिए ये दो अनुग्रह की वाचा नहीं है जिनके तत्व में अंतर है। वरन् एक है, जो अलग-अलग समय के अनुसार है।

अध्याय 8

यीशु मसीह की मध्यस्थता

1. परमेश्वर को अपनी अनन्त योजना में यह अच्छा लगा, कि वह अपने इकलौते/प्रिय पुत्र यीशु मसीह को, मनुष्य और परमेश्वर के बीच बिचवईया चुने और ठहराए, और भविष्यद्वक्ता, याजक, राजा, कलीसिया का उद्धारक और मुखिया, सभी चीजों का वारिस, संसार का न्यायी ठहराए, जिसे उसने अनन्तकाल से लोगों को उनका बीज करके दे दिया और उसमें समय पर उन्हें छुटकारा दिया, बुलाया, धर्मी ठहराया, पवित्र किया और महिमा दी।
2. त्रिएक में दूसरा व्यक्ति परमेश्वर का पुत्र जो स्वभाव और अनन्तकाल से सभी तत्वों/गुणों में परमेश्वर के समान है, जब समय पूरा हुआ कि वह मनुष्य का स्वभाव ले, सभी महत्वपूर्ण गुणों और कमजोरी के साथ, फिर भी बिना पाप के, पवित्र आत्मा की सामर्थ से, कुंवारी मरियम में गर्भधारण किया, ताकि दो सम्पूर्ण, परिपूर्ण अलग स्वभाव, परमेश्वरत्व और मनुष्यत्व अभिन्न (जिन्हें अलग न किया जा सके) रीति से एक व्यक्ति में बिना बदले, बिना गड़बड़ और बिना संरचना किए जोड़ दिया, जो पूर्णता परमेश्वर, पूर्णता मनुष्य फिर भी एक मसीह मनुष्य और परमेश्वर के बीच एकमात्र बिचवईया है।

3. अपने मनुष्य स्वभाव में प्रभु यीशु मसीह परमेश्वर के साथ एक था, पवित्र आत्मा के साथ पवित्र और अभीषिक्त किया गया था। जिसमें ज्ञान और बुद्धि का सम्पूर्ण भण्डार है, जिसमें परमेश्वर को भला लगा की पूरी सम्पूर्णता वास करे, जो पवित्र नुकसान रहित, दोष मुक्त और अनुग्रह और सच्चाई से भरपूर रहे, कि वह बिचवइया और जमानत देने वाले की भूमिका के लिए पूर्ण योग्य हो।

यह पद (जिम्मेदारी) उसने (यीशु) अपने आप नहीं ली, वरन् उसके पिता द्वारा दी गई, जिसने पूरी सामर्थ और अधिकार उसके (यीशु हाथों में दे दिया और आज्ञा दी कि उसे पूरा (क्रियान्वित) करें।

4. इस जिम्मेदारी को प्रभु यीशु ने पूर्ण इच्छा से अपने ऊपर ले ली, कि इसे पूरा करें, वह व्यवस्था के आधीन रहा और उसे परिपूर्णता में पूरा किया, उसने अपनी आत्मा में बहुत दुःख, यातना सही और अपने शरीर पर असीम दुःख उठाया, वह क्रूस पर चढ़ाया गया, मारा गया, दफनाया गया और मृत्यु के आधीन रहा, फिर भी उसने कोई पाप न किया। तीसरे दिन वह उसी शरीर में, जिसमें उसने यातना सही, मृतकों में से जी उठा, जिसमें वह स्वर्ग में भेजा गया, जहां वह पिता के दाहिने बैठकर विचवइये की प्रार्थना करता है। वह संसार के अन्त में मनुष्य और स्वर्ग दूतों का न्याय करने वापस आयेगा।
5. अनन्तकालीन आत्मा के द्वारा प्रभु यीशु ने अपनी सिद्ध आज्ञाकारिता और अपने आपको बलिदान करके, परमेश्वर को प्रस्तुत किया, जिससे परमेश्वर के न्याय को संतुष्ट/पूरा किया और परमेश्वर से मनुष्य का मेल मिलाप ही नहीं कराया, वरन् उनको, जिन्हें परमेश्वर ने उसे दिया, स्वर्ग के राज्य का अनन्तकालीन वारिस बनाया।
6. यद्यपि छुटकारे का वास्तविक कार्य यीशु मसीह के द्वारा पूरा नहीं हुआ था, जब तक वह मनुष्य बनकर पृथ्वी पर नहीं आया, फिर भी चुने हुओ को इसके गुण, प्रभाव, और फायदे संसार की उत्पत्ति से सभी कालों में वायदों और बलिदान जिसमें वह प्रगट हुआ प्राप्त थे, और स्त्री के वंशज के द्वारा सांप के सिर के कुचले जाने के वायदे में महत्वपूर्ण है, और संसार की उत्पत्ति से पहले ही मेम्ने का बलिदान हुआ और वह कल आज और हमेशा एक सा है।
7. बिचवइए के कार्य में यीशु मसीह, दोनों स्वभाव के अनुसार कार्य करते हैं। हर एक स्वभाव में जो इसके अनुरूप है, करते हैं। फिर व्यक्तित्व की एकता के कारण जो एक स्वभाव में कभी ठीक है, पवित्र शास्त्र में व्यक्ति की दूसरे स्वभाव के अनुसार ठीक है।
8. वे सभी, जिनके लिए मसीह ने छुटकारे की कीमत चुकाई अथवा खरीदा, वह

निश्चयता, प्रभावी लागू करने और बताने के द्वारा, उनके लिए प्रार्थना करते हुए, उन पर उद्धार के रहस्य को वचन में और वचन के द्वारा प्रगट करते हैं। अपनी आत्मा के द्वारा उन्हें प्रभावी रूप से कायल करते हैं, कि वे विश्वास करें और आज्ञा मानें और आत्मा के द्वारा उनके हृदय नियंत्रित करते हैं। अपनी असीमित सामर्थ और बुद्धि से उनके दुश्मनी पर विजय दिलाते हैं, वह यह सब कुछ अपनी अद्भुत और जिसे खोजा न जा सके मार्गों के अनुसार प्रदान करता है।

अध्याय 9

स्वतन्त्र इच्छा

1. परमेश्वर ने मनुष्य को स्वभाविक आजादी की इच्छा प्रदान की, जिसे न तो जबरदस्ती स्वभाव के लिए, सम्पूर्ण अनिवार्य ठहराया, जिससे अच्छा अथवा बुरा निर्धारित किया जाए।
2. मनुष्य को उसकी पवित्रता की स्थिति में स्वतंत्रता दी गयी, कि वह इच्छा की सामर्थ में वह सब कुछ करे जिससे परमेश्वर प्रसन्न होता है। फिर भी इच्छा परिवर्तनीय थी कि वह इसमें नाकाम(गिर) हो सकता था।
3. मनुष्य, पाप में गिरने के द्वारा, उसने अपनी इच्छा की सारी योग्यता खो दी, जिससे वह आत्मिक इच्छा जो उद्धार के लिए आवश्यक है, कर सकता था। एक स्वभाविक मनुष्य के रूप में भलाई से अलग, पाप में मरा हुआ इस योग्य नहीं रहा, कि अपनी शक्ति से वह अपने आपको बदल सके अथवा इसके लिये तैयार हो सके।
4. जब परमेश्वर किसी को परिवर्तित करता है, उसे अनुग्रह की स्थिति में परिवर्तित करता है। वह पाप के स्वभाव के बंधन से आजाद करता है। सिर्फ अपने अनुग्रह के द्वारा उसे इस योग्य करता है, कि उसमें इच्छा पैदा हो और वह आत्मिक अच्छाई कर सके, परंतु जो भ्रष्टता उसे बची रहती है, उससे वह सिर्फ अच्छा ही नहीं करता वरन् जो बुरा है वह भी करता है।
5. सिर्फ महिमा की स्थिति में ही, मनुष्य की इच्छा सिद्धता और अपरिवर्तनीय रूप से अच्छा करने के लिये सिद्ध होगी।

अध्याय 10

प्रभावी बुलाहट

1. उन सभी को, जिन्हें उसने पहले से जीवन के लिये नियुक्त किया, अपने ठहराये हुए समय पर वचन और आत्मा के द्वारा पाप की दशा और मृत्यु जो स्वभाव से उनमें थी, अनुग्रह और उद्धार के लिये प्रभावी ढंग से बुलाया। यीशु मसीह के द्वारा उनके दिमाग/बुद्धि को आत्मिक प्रकाशन/ज्योति प्रदान की, ताकि वे परमेश्वर के उद्धार

की समझ प्राप्त करें, उनसे पत्थर के हृदय को अलग करके मांस का हृदय प्रदान किया। उनकी इच्छा को नया किया, अपनी असीमित सामर्थ्य के द्वारा उन्हें अच्छाई के लिए दृढ़ किया, प्रभावी रूप से यीशु के पास लेकर आये। फिर भी वे पूर्ण स्वतंत्रता से आये, अनुग्रह के द्वारा उनमें इच्छा बनायी गई।

2. प्रभावी बुलाहट परमेश्वर का दान और विशेष अनुग्रह है। ऐसा नहीं कि उसने मनुष्य में पहले से कुछ देखा, जो उनमें निष्क्रिय है, तब उन्हें पवित्र आत्मा से फिर नया किया गया, इसलिए मनुष्य इस योग्य हो जाता है, कि इस बुलाहट का प्रति उत्तर दे सके और इसमें जो अनुग्रह प्रस्तुत किया गया है उसे अपना सके।
3. चुने हुए शिशु जो अपनी बाल्यवस्था में मर जाते हैं, यीशु मसीह, आत्मा द्वारा जो जब जहां जैसे अच्छा लगता कार्य करता है, के द्वारा उन्हें नया जीवन और उद्धार प्रदान करते हैं। उसी प्रकार जैसे अन्य सभी चुने हुए लोग जो अयोग्य हैं, वचन की सेवा के द्वारा बुलाये जाते हैं।
4. दूसरे जो चुने हुए नहीं हैं, वचन की सेवा के द्वारा बुलाये तो जा सकते हैं, और उनमें कुछ आत्मा के सामान्य कार्य भी हो सकते हैं, फिर भी वे सत्यता से यीशु के पास नहीं आते, इसलिये बचाये नहीं जा सकते। जो ऐसा मानते हैं कि अन्य कुछ मनुष्य जो मसीही धर्म नहीं मानते अन्य मार्ग से बच सकते हैं, वे सच्चाई से अपने जीवन को प्रकृति के प्रकाश के अनुसार नहीं जी सकते न ही उस धर्म की व्यवस्था के अनुसार जिसे वे मानते हैं। ऐसे मानना घृणित और घातक हैं।

अध्याय 11

धर्मीकरण/न्यायीकरण

1. जिन्हें परमेश्वर प्रभावी बुलाहट देता है, वह उनका समर्थन/बचाव भी करता है। उनमें धार्मिकता भर कर नहीं वरन् उनके पाप क्षमा करके और उन्हें मानते हुए धर्मी व्यक्ति स्वीकार करता है, इसलिए नहीं कि उनमें कुछ किया या उन्होंने कुछ किया वरन् सिर्फ मसीह के लिये। इसलिये नहीं कि उन्होंने विश्वास किया, विश्वास का कार्य किया, अथवा अन्य सुसमाचार की आज्ञा मानी, ताकि वे धर्मी बन जायें वरन् यीशु मसीह की आज्ञाकारिता और संतुष्टि उनको प्रदान की। वे इसे प्राप्त करते हैं, भरोसा करते हैं, कि ये उनकी धार्मिकता है, ऐसा विश्वास वे अपने आप नहीं कर सकते यह परमेश्वर का दान है।
2. मसीह को स्वीकारना और उस पर भरोसा रखना और उसकी धार्मिकता पर आसरा रखने का विश्वास ही एकमात्र, बचाव का साधन है। फिर भी यही एकमात्र नहीं है, बचाये (न्याय से प्रमाणित) किये गये व्यक्ति में, वरन् दूसरे सभी बचाने वाले अनुग्रह

के साथ यह भी है। यह मृत विश्वास नहीं वरन् प्रेम के द्वारा कार्यरत विश्वास है।

3. यीशु मसीह ने अपनी आज्ञाकारिता और मृत्यु से उन सभी का जो न्याय से प्रमाणित किये गये हैं, कर्ज चुका दिया है और उनके बदले में परमेश्वर के न्याय को पूर्णता, सच्चाई से पूर्ण संतुष्ट किया, जिस प्रकार पिता ने यीशु को उनके लिये दिया, उसने यीशु की आज्ञाकारिता और संतुष्टि को उनके बदले में स्वीकार किया। स्वतंत्रता से, इसलिये नहीं कि उनमें कोई खूबी थी, उनका बचाव/समर्थन मुफ्त अनुग्रह है, उनके लिये, कि परमेश्वर का उचित न्याय और बहुमूल्य अनुग्रह पापियों के बचाव में महिमा पाये।
4. परमेश्वर ने अनन्त काल से चुने हुए को न्याय से प्रमाणित करने का निर्णय लिया और यीशु मसीह, जब समय पूरा हुआ, उनके पापों के लिए मारे गये और उनके बचाव/समर्थन के लिये जी उठे, फिर भी वे निर्दोष नहीं ठहराये गये, जब तक कि पवित्र आत्मा समय पर प्रभु यीशु मसीह को उनमें क्रियान्वित नहीं करती।
5. जो निर्दोष ठहराये गये, परमेश्वर उनके पापों को निरन्तर क्षमा करते रहते हैं। यद्यपि वे निर्दोष होने की स्थिति से पतित नहीं हो सकते, फिर भी अपने पापों से परमेश्वर के अनुशासन को अपने ऊपर ला सकते हैं, और परमेश्वर अपने मुख का प्रकाश दृष्टि उनसे अलग कर लेता है। जब तक वे नम्र होकर अपने पाप अंगीकार नहीं करते, क्षमा नहीं मांगते और पश्चाताप करके अपने विश्वास को नया नहीं करते।
6. पुराने नियम के समय के विश्वासियों का/बचाव/निर्दोष ठहराना/किया जाना और नये नियम के विश्वासियों का बचाव दोनों एक समान और एक ही है।

अध्याय 12

लेपालकपन

1. वे सभी जो निर्दोष ठहराये गये हैं, परमेश्वर उन्हें अपने पुत्र यीशु में और उसके लिए, उन्हें स्वीकार करने (गोद लेने) के अनुग्रह में सम्मिलित होने की अनुमति प्रदान करता है, जिससे वे परमेश्वर की संतान की स्वतंत्रता और अधिकार, सौभाग्य में शामिल हो जाते हैं। परमेश्वर का नाम अपने पर ले सकते हैं, दत्तक की आत्मा पाते हैं, अनुग्रह के सिंहासन पर पहुंचने का साहस पाते हैं, और उसे पिताजी/अब्बा बुला सकते हैं। पिता के समान उसकी दया, सुरक्षा, आशीष पाते और वह उन्हें शुद्ध करता है। वे निकाले नहीं जाते वरन् छुटकारे के दिन के लिये उन पर मोहर लग जाती है वे वायदों के वंशज और अनन्तकाल के उद्धार के वारिस बन जाते हैं।

अध्याय 13

पवित्रीकरण

1. वे जिन्हें प्रभावी बुलाहट से बुलाया गया, नया जन्म हुआ, जिन्हें नया हृदय और नयी आत्मा दी गई, यीशु मसीह की मृत्यु और पुनरुत्थान के गुणों के द्वारा, उसके वचन और आत्मा के, उनमें वास करने से उनका पवित्रीकरण भी हुआ। उनमें शरीर के सभी पापों की प्रभुता नाश की गई और कई अभिलाषाएं कमजोर और वश में की जाती हैं, और वे अधिकार से सभी उद्धार के अनुग्रह में प्रोत्साहित और मजबूत किये जाते हैं, कि वे सच्ची पवित्रता के कार्य कर सकें, जिसके बिना कोई प्रभु को नहीं देख सकता।
2. सम्पूर्ण मनुष्य में पवित्रीकरण हमेशा होता रहता है। इसलिए यह इस जीवन में अपूर्ण है, क्योंकि पाप/भ्रष्टता के शेष अंश अभी जीवन के हर हिस्से में बने रहते हैं, जिससे निरंतर बिना समझौते का युद्ध, शारीरिक अभिलाषा और आत्मा और आत्मा का शरीर के विरोध में चलता रहता है। इस युद्ध/संघर्ष में पाप के अवशेष कुछ समय के लिये प्रबल हो सकते हैं। परंतु यीशु मसीह की पवित्रीकरण की आत्मा के निरंतर सामर्थ्य प्रदान करते रहने से नया जीवन विजयी होता है और संत/विश्वासी अनुग्रह, सिद्धता की पवित्रता और परमेश्वर के भय में उन्नति करते हैं।

अध्याय 14

उद्धार का विश्वास

1. अनुग्रह का विश्वास, जिससे चुने हुए लोग, उनकी आत्मा के उद्धार पर विश्वास करने योग्य होते हैं। यह मसीह की आत्मा का उनके हृदय में कार्य और वचन की सेवा के द्वारा निर्मित होता है, और संस्कार के लागू करने/लेने और प्रार्थना से यह बढ़ता और मजबूत होता है।
2. इस विश्वास से एक मसीह विश्वास करता है, कि जो कुछ भी वचन में प्रगट हुआ है, वह सत्य है, उसमें परमेश्वर स्वयं के अधिकार से बात करता है, अलग-अलग प्रकार से वचन के हिस्से में जो कुछ है, आज्ञा के प्रति आज्ञाकारिता, चेतावनी से सावधान, इस जीवन और जो आने वाला है के लिए परमेश्वर के वायदे को अपनाना है। लेकिन उद्धार के विश्वास का सिद्धान्त/नियम है कि सिर्फ मसीह को मानना, स्वीकारना और भरोसा रखना, कि अनुग्रह की वाचा के गुण में वही दोष मुक्त, पवित्रीकरण और अनन्त जीवन देता है।
3. यह विश्वास, स्तर में फर्क है, कमजोर और सुदृढ़, कई बार आक्रमण से कमजोर हो सकता है, परंतु यीशु मसीह के द्वारा जो विश्वास देने वाला और अंजाम तक पहुँचाने वाला है, बहुतों में पूर्ण आश्वासन को बढ़ाते हुए विजयी ठहराता है।

अध्याय 15

जीवन के लिये पश्चाताप

1. जीवन के लिए पश्चाताप एक सुसमाचार का अनुग्रह है। इसलिए यह सिद्धांत, हर एक सुसमाचार प्रचारक के द्वारा, यीशु मसीह में विश्वास के साथ प्रचार किया जाना चाहिए।
2. इसमें एक पापी दृष्टि और समझ में सिर्फ खतरे में ही नहीं, वरन् गन्दे और घृणित पाप से, पवित्र स्वभाव और परमेश्वर की धार्मिक व्यवस्था के विरोध में रहता है। परमेश्वर की दया, यीशु मसीह में समझ के द्वारा, वह पश्चातापी और दुःखी होता है और अपने पाप से घृणा करता है, और इनसे मुड़कर परमेश्वर के पास आता है। उद्देश्य लेकर परमेश्वर के मार्ग और आज्ञाओं में उसके साथ चलने का प्रयास करता है।
3. पश्चाताप पाप की संतुष्टि और क्षमा का कारण अपने आप में नहीं है, इस पर हमारा भरोसा नहीं होना चाहिए। यह तो परमेश्वर का यीशु मसीह में अनुग्रह है, फिर भी यह सभी पापियों के लिये अनिवार्य है, बिना पश्चाताप के कोई भी क्षमा नहीं पा सकता।
4. ऐसा कोई छोटा पाप नहीं, जो नरक यातना न दे और ऐसा कोई बड़ा पाप नहीं, जो सच्चे पश्चातापी को नरक यातना दे।
5. मनुष्य को अपने आप में साधारण पश्चाताप से संतुष्ट नहीं होना चाहिए, वरन् यह हर एक मनुष्य की जिम्मेदारी है, कि वह हर एक पाप के लिए पश्चाताप करे। हर मनुष्य अपने पापों को अकेले में परमेश्वर के सामने अंगीकार करने के लिये बाध्य/अनिवार्य है, क्षमा के लिए प्रार्थना करें, उनका त्याग करें, जिससे वह परमेश्वर की दया पाता है। यदि वह अपने भाई अथवा मसीह की कलीसिया को धोखा देता है, तो उसे चाहिए कि वह अकेले में और लोगों के सामने इसको अंगीकार करें और उनको जिन्हें उसने सताया, धोखा दिया है, पश्चाताप करे और मेलमिलाप करे, ऐसे व्यक्ति को प्रेम में स्वीकार कर लेना चाहिए।

अध्याय 16

अच्छे कार्य

1. अच्छे कार्य वही है, जिन्हें परमेश्वर ने पवित्र शास्त्र में करने की आज्ञा दी है। ऐसे कार्य नहीं, जो बिना प्रमाण के, मनुष्य की अंधी इच्छा और अच्छे उद्देश्य की सोच के अनुसार हो।
2. अच्छे कार्य, जो परमेश्वर की आज्ञाओं को मानने(पूरा करने) से होते हैं, वह सच्चे

और जीवित विश्वास का प्रतिफल और प्रमाण है। इसके द्वारा विश्वासी धन्यवाद, सामर्थ और उनका आश्वासन प्रकट करते हैं, इससे अपने भाइयों का सुधार, उन्नति, सुसमाचार के कार्य को ऊँचा उठाते, अपने शत्रु का मुंह बन्द करते, और परमेश्वर को महिमा देते हैं, वे मसीह यीशु में बनाये/रचे गये कि पवित्रता के फल को प्राप्त करें और अन्ततः अनन्त जीवन पाये।

3. अच्छा करने की योग्यता उनकी अपनी योग्यता नहीं है, वरन् यह पूर्णता यीशु की आत्मा की है, कि वे इसके (अच्छे कार्यों) लिए योग्य हों, इसके लिए अनुग्रह जो उन्होंने पा लिया के अलावा पवित्र आत्मा के प्रभाव की आवश्यकता होती है कि, उनकी इच्छा में कार्यरत हो, उसकी भली इच्छा पूरी हो, फिर भी वे अनदेखी नहीं कर सकते, कि वे बाध्य नहीं थे कि वे फर्ज पूरा करें, जब तक आत्मा उन्हें चलाती नहीं, वरन् उन्हें सावधानी पूर्वक परमेश्वर के अनुग्रह में अपने आप में प्रयास करते रहना चाहिए।
4. वे जो अपनी आज्ञाकारिता में बड़ी ऊँचाई प्राप्त करते हैं, जो इस जीवन में सम्भव है, वे कर्तव्य से अधिक और जो परमेश्वर चाहता है, उससे अधिक करने से पीछे/नाकाम रहते हैं। उस कार्य से जिसे फर्ज में करने के लिए बाध्य होते हैं। वह उस स्तर से नीचे ही रहते हैं।
5. हम अपने उत्तम कार्यों के द्वारा, पापों की क्षमा और परमेश्वर से अनन्त जीवन नहीं पा सकते, हममें और जो महिमा आने वाली है, उसमें कोई तालमेल नहीं है। हमारे और परमेश्वर के बीच असीमित दूरी है। अच्छे कार्य से हमें कोई लाभ नहीं मिलता, न ही इससे हम अपने पहले के पाप का कर्ज उतार सकते, वरन् हम वह सब कुछ कर देते हैं, जो कर सकते थे, हमने सिर्फ अपना फर्ज किया और लाभ न देने वाले सेवक हैं, अच्छे कार्य अच्छे हैं, क्योंकि वे उसकी आत्मा द्वारा हुए। जब वे हमारी सोच से हुए वे दोषपूर्ण, कमजोरी और अपरिपूर्णता युक्त हैं, वे परमेश्वर के न्याय की दुःख, यातना को सह नहीं सकते।
6. फिर भी विश्वासी यीशु के द्वारा स्वीकार किये जाते हैं, उसमें (यीशु) उनके अच्छे कार्य भी स्वीकार होते हैं। इसलिए नहीं कि वे इस जीवन में पूर्णता परमेश्वर की दृष्टि में दोषरहित और दोष मुक्त है। वरन् इसलिये कि वह अपने पुत्र में उन्हें देखता है और जो सच्चा है, उसे खुशी से स्वीकारता और प्रतिफल/सम्मान देता है। यद्यपि उनमें कई दोष और अपूर्णता होती है।
7. वे कार्य जो नया जीवन न पाये लोग करते हैं, यद्यपि हो सकता है वे कार्य जो जिनकी

आज्ञा परमेश्वर ने दी और अपने और दूसरों की भलाई करते हों, फिर भी क्योंकि वे ऐसे हृदय से नहीं होते, जो विश्वास से पवित्र हुआ है, न ही सही तरह से वचन के अनुसार होते हैं, न ही उनका अन्त अच्छा है, न ही परमेश्वर की महिमा के लिए, इसलिये वे पापयुक्त हैं, और परमेश्वर को प्रसन्न नहीं कर सकते, न ही मनुष्य को इस योग्य बनाते हैं, कि वे परमेश्वर से अनुग्रह को प्राप्त करें, फिर भी यदि वे इन्हें अनदेखा करते हैं, वह और ज्यादा पापयुक्त और परमेश्वर को नापसन्द है।

अध्याय 17

संतों की दृढ़ता

1. वे, जिन्हें परमेश्वर ने अपने प्रिय पुत्र में स्वीकार किया है, उन्हें प्रभावी बुलाहट दी आत्मा के द्वारा पवित्र किया, वे न तो पूर्णता, न अन्ततः अनुग्रह की स्थिति से दूर होंगे, वरन् अन्त तक निश्चयता के साथ परमेश्वर उन्हें दृढ़ करेंगे और वे अनन्तकाल के लिए बचाए गए हैं।
2. संतों की दृढ़ता/धैर्य, उनकी अपनी स्वतंत्र इच्छा पर आधारित नहीं है, वरन् अपरिवर्तनीय चुनाव के निर्णय, जो परमेश्वर के स्वतंत्र और अपरिवर्तनीय प्रेम से निकलता है। यीशु मसीह की बिचवड़े की प्रार्थना के प्रभाव और गुण से, आत्मा उनमें बनी रहती है, और परमेश्वर का बीज, उनमें स्वयं में और अनुग्रह की वाचा के स्वभाव से, जिससे अडिगता की निश्चयता उत्पन्न होती है।
3. फिर भी वे शैतान और संसार की परीक्षा में पड़कर, पाप/भ्रष्टता का प्रचलन, जो उनमें बचा रहता है, और सुरक्षा के साधनों को अनदेखा करने से, वे दुःखदायी घृणित पाप में फंस जाते हैं, और कुछ समय के लिये उसमें बने रहते हैं, जिससे परमेश्वर का अनादर और पवित्र आत्मा को दुःखी करते हैं, अपनी अनुग्रह और सांत्वना का दमन करते हैं, अपने हृदय को कठोर करते और अपनी आत्मा को जखमी करते हैं, दूसरे को दुःख और धोखा देते हैं और अपने ऊपर अस्थायी न्याय को लाते हैं।

अध्याय 18

अनुग्रह और उद्धार का आश्वासन

1. यद्यपि पाखण्डी और दूसरे लोग, जिन्होंने नया जीवन नहीं पाया, व्यर्थ में अपने आपको झूठी आशा और सांसारिक धारणा में, कि वह परमेश्वर का है और उद्धार पाया है (उनकी यह आशा समाप्त हो जाती है) समझ कर धोखा देते हैं। परंतु जो सच्चाई से प्रभु यीशु मसीह पर विश्वास और सच्चाई से प्रेम करते, उसकी उपस्थिति में अच्छी चेतना में चलने का प्रयास करते हैं। इस जीवन में निश्चय ही आश्वासन

होते हैं, कि वे अनुग्रह में हैं और परमेश्वर की महिमा की आशा में आनन्दित होते हैं, उनकी ये आशा उनका अनादर नहीं करती वरन् हमेशा बनी रहती है।

2. यह निश्चयता अनुमानित और सम्भावित धारणा और टूटने वाली आशा पर आधारित नहीं है। वरन् विश्वास का अडिग आश्वासन, जो उद्धार के वायदे की ईश्वरीय सच्चाई पर आधारित है, जिसका आन्तरिक प्रमाण अनुग्रह है, जिसमें ये वायदे किये गये और ग्रहण करने वाली आत्मा की गवाही, जो हमारी आत्मा में, इस बात की गवाही देता है, कि हम परमेश्वर की संतान हैं, यह आत्मा हमारे उत्तराधिकार की सच्चाई है, जिससे हम पर छुटकारे के दिन के लिये मोहर लगायी गयी है।
3. यह अटल आश्वासन, विश्वास के महत्व/गुण का नहीं है, वरन् एक सच्चे विश्वासी को इन्तजार हो सकता है, और इससे पहले कि वह इसमें शामिल हो, उसे बहुत से मुश्किलों का सामना करना पड़ सकता है, परन्तु पवित्र आत्मा से वह इस योग्य होता है कि परमेश्वर ने जो उपहार उसे दिये हैं, समझ सकें, वह उन्हें बिना अप्राकृतिक प्रकाशन के, साधारण साधन के सही इस्तेमाल से प्राप्त (समझ) कर सकता है, इसलिए यह हर एक का फर्ज है, कि वह सावधानी पूर्वक अपनी बुलाहट और चुनाव का निश्चय करे, जिससे वह अपने हृदय में शान्ति, पवित्र आत्मा में आनन्द, प्रेम में परमेश्वर का धन्यवाद, में बढ़ सके, अथवा ये सब उसके हृदय में बढ़ सके, आज्ञाकारिता के फर्ज में शक्ति/सामर्थ और आनन्द बढ़ सके। इस आश्वासन का सही प्रतिफल, अब तक झुके हुए व्यक्ति/बंधे हुए मनुष्य को आजाद करना है।
4. सच्चे विश्वासियों का उद्धार का आश्वासन, कई प्रकार से हिल, कम और रुक सकता है। इसकी सुरक्षा को अनदेखा करने से, किसी विशेष पाप में पड़ने से, जो चेतना को जखमी और आत्मा को दुःखी करता है। कुछ अकस्मात और तीव्र परीक्षा में पड़ने से परमेश्वर अपने मुख का प्रकाश अलग कर लेता है, और दुःख इस बात का वे अंधेरे में चलते हैं और उनके पास प्रकाश नहीं है। फिर भी वे पूर्णतः परमेश्वर के बीज के अभावग्रस्त नहीं होते और जीवन के विश्वास में बने रहते हैं, यीशु मसीह और भाइयों का प्रेम, हृदय की सच्चाई, फर्ज की जागरूकता, जिससे आत्मा के कार्य के द्वारा यह आश्वासन समय पर फिर से जाग्रत हो जाता है, इस दौरान वे पूर्ण निराशा के समय सहारा पाते हैं।

अध्याय 19

परमेश्वर की व्यवस्था

1. परमेश्वर ने आदम को एक व्यवस्था, कार्य की वाचा के रूप में दी, जिसमें उसने उसको (आदम) और पूरे वंशज को निरन्तर (स्थायी) आज्ञाकारिता के लिए कहा,

और इसे पूरा करने पर जीवन का वादा किया, इसके तोड़ने पर मृत्यु की चेतावनी दी और आज्ञा पूरा करने के लिए सामर्थ और योग्यता प्रदान की।

2. पतन के पश्चात् भी, यह व्यवस्था धार्मिकता लिए सिद्ध नियम बनी रही। सीनै पर्वत पर परमेश्वर ने दस आज्ञाएं दो तख्तियों पर लिखी हुई दी। पहली चार आज्ञाएं हमारे कर्तव्य को परमेश्वर के लिए और दूसरी छः आज्ञाएं दूसरे लोगों के प्रति हमारे कर्तव्य के बारे में हैं।
3. इस व्यवस्था, जिसे नैतिक व्यवस्था कहा जाता है, के अलावा परमेश्वर ने इस्त्रायल के लोगों संस्कार की व्यवस्था, जिसमें कई प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान, आराधना के नियम दिये, जिसमें मसीह को पहले से ही समझ, उसके अनुग्रह, कार्य, दुःख और फायदे लोगों को दिये गये और नैतिक कर्तव्य के विभिन्न निर्देश दिये। वे सभी संस्कार के नियम/व्यवस्था नयी वसीयत/नियम के समय रद्द कर दी गयी है।
4. उनको अनेक न्यायायिक व्यवस्था, नीतियों के रूप में दी, जो उस समय के लोगों के साथ समाप्त हो गई और अब उनके प्रति कोई दायित्व नहीं है, सिर्फ इतना की साधारण न्याय संगत निपटारा आवश्यक है।
5. नैतिक व्यवस्था सभी के लिए हमेशा मान्य है। इसकी आज्ञाकारिता मनुष्य को दोष मुक्त ठहराती है। सिर्फ जो उस सन्दर्भ में ही नहीं परन्तु परमेश्वर सृष्टिकर्ता के अधिकार के सन्दर्भ में भी, जिसने इसे दिया। यीशु मसीह सुसमाचार में इस जिम्मेदारी को समाप्त नहीं वरन् और मजबूत करते हैं।
6. यद्यपि सच्चे विश्वासी, कार्य की वाचा की व्यवस्था के आधीन नहीं हैं, कि इससे दोष मुक्त अथवा दोषी ठहरे, फिर भी यह उनके और दूसरों के लिये महत्वपूर्ण है और परमेश्वर की इच्छा, जीवन के नियम और उनके कर्तव्य के बारे में बताती है और उसके अनुसार (जीवन बिताना) मार्गदर्शन करती है, उनके स्वभाव हृदय और जीवन में पाप की गन्दगी, भ्रष्टता का ज्ञान कराती है, कि वे अपने आप की जांच करते हुए पाप से नफरत, अपमान के दृढ़ विश्वास को प्राप्त करें और इस बात को भली भांति जान लें, कि उन्हें मसीह और उसकी परिपूर्णता की आज्ञाकारिता चाहिए। इस प्रकार व्यवस्था, नवजीवन के विकास के लिए उनके पापों/भ्रष्टता को रोकती, पाप करने को मना करती और पाप के परिणाम की चेतावनी देती और इस जीवन में इसके दुःख जो उन्हें मिल सकते बताती है, यद्यपि व्यवस्था में जो श्राप का डर है उससे वे स्वतंत्र होते हैं।

इसी प्रकार इसमें जो वायदा है, परमेश्वर की आज्ञा मानने में परमेश्वर की स्वीकृति,

इसे पूरा करने पर आशीष जो उन्हें मिलती, दिखाती/बताती है। इसलिए नहीं कि कार्य की वाचा की व्यवस्था से उनका इस पर अधिकार है।

इस प्रकार मनुष्य बुराई छोड़कर भलाई करता है, क्योंकि व्यवस्था उस उत्साहित करती है और बुराई से रोकती है, यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि वे व्यवस्था के आधीन है और अनुग्रह के आधीन नहीं है।

7. न ही पहले से बताई गयी व्यवस्था सुसमाचार के अनुग्रह के विपरीत है। वरन् नम्र, इच्छा के अनुसार इसके साथ है। यीशु की आत्मा मनुष्य की इच्छा को नियंत्रित और योग्य बनाती है, कि स्वतंत्रता और खुशी से, परमेश्वर की इच्छा जो व्यवस्था में प्रगट की गयी है जिसे करने को कहा गया, पूरा करे।

अध्याय 20

मसीह आजादी और विवेक की स्वतंत्रता

1. मसीह ने सुसमाचार में, जो स्वतंत्रता विश्वासियों के लिए खरीदी, वह उनकी पाप के दोष, परमेश्वर के दोषी ठहराने वाले क्रोध, नैतिक व्यवस्था के श्राप और उन्हें इस बुरे संसार, शैतान के बन्धन और पाप की प्रभुता, बुराई की यातना, मृत्यु के डंक, कब्र की विजय और अनन्त नाश से स्वतंत्रता है, और उनकी परमेश्वर तक स्वतंत्र पहुँच, परमेश्वर की आज्ञा मानना एक दास के समान नहीं, वरन् बच्चे के प्रेम और मन की इच्छा में की स्वतंत्रता है। जो सभी व्यवस्था के आधीन विश्वासियों में भी सामान्य थी। परन्तु नयी व्यवस्था के अंतर्गत, मसीही स्वतंत्रता को और बढ़ा दिया गया है। संस्कारी व्यवस्था से उन्हें स्वतंत्रता दी गयी, जिसमें यहूदी कलीसिया बंधी थी, और उन्हें अधिक साहस से परमेश्वर के अनुग्रह के सिंहासन तक पहुँच और परमेश्वर की आत्मा से पूर्ण सम्पर्क की स्वतंत्रता दी गयी, जो व्यवस्था के आधीन विश्वासियों को साधारणतः पूर्ण रीति से प्राप्त नहीं थी।
2. सिर्फ परमेश्वर ही विवेक का स्वामी है, और उसने इसे, मनुष्य के सिद्धांत और आज्ञाओं से स्वतंत्र छोड़ा है, जो किसी भी प्रकार से विश्वास और आराधना के मामले में उसके वचन के खिलाफ और वचन से अलग है। इसलिये इन सिद्धांतों पर विश्वास करना और इन आज्ञाओं को अपने विवेक से मानना, विवेक की सच्ची स्वतंत्रता का धोखा देना है। अन्धा विश्वास और सम्पूर्ण और अन्धी आज्ञाकारिता मांगना विवेक की स्वतंत्रता और तर्क को नाश करना है।
3. वे जो मसीही स्वतंत्रता का मुखौटा पहनकर पाप करते रहते हैं, और बुरी अभिलाषाओं में मग्न रहते हैं। वे मसीही स्वतंत्रता को नष्ट करते हैं। जो कि अपने दुश्मन के हाथों

से छूटकर, हम बिना भय के परमेश्वर (प्रभु) की सेवा उसके सामने पवित्रता और धार्मिकता से अपने पूर्ण जीवन में करते रहना हैं।

4. क्योंकि परमेश्वर ने सामर्थ जो पहले से ठहरायी/दी और स्वतंत्रता जो मसीह ने हमारे लिए खरीदी, परमेश्वर की इच्छा नहीं है, कि वे नष्ट हो, परन्तु एक दूसरे को स्थिरता और सुरक्षा दे, वे जो मसीह स्वतंत्रता के मुखौटे पर न्याय संगत सामर्थ का अथवा इसके इस्तेमाल का विरोध करते हैं, चाहे वे नागरिक अथवा कलीसिया के सम्बन्ध में हों, वे परमेश्वर के धार्मिक अनुष्ठान/नियम का विरोध करते हैं। और उनके इस विचारधारा और इन बातों में लगे रहना, जो प्रकृति के नियम और मसीह नियमों/सिद्धांतों (विश्वास, आराधना और बातचीत के मामले में), अथवा सद्गुण की सामर्थ के विरुद्ध, ऐसे गलत विचार और उन्हें करना, चाहे अपने स्वभाव से अथवा उन्हें प्रकाशित करके, मान्यता देते हुए, बाहरी शांति और व्यवस्था के लिए नुकसानदेह है, जिसे मसीह ने कलीसिया में स्थापित किया है। और उन्हें न्यायसंगत इसका हिसाब के लिए बुलाया जाए और कलीसिया की आलोचना के विरुद्ध कार्यवाही की जाये।

अध्याय 21

धार्मिक आराधना और विश्राम दिन

1. प्रकृति का प्रकाश/ज्ञान बताता है, कि परमेश्वर है, जो सबका मालिक, सब पर प्रभुता करता है, जो भला है और सबके लिये भलाई करता है। इसलिए उसका भय, उसको प्रेम, उसकी स्तुति, उस पर भरोसा, उसकी सेवा, उसको पुकारना, पूर्ण हृदय, आत्मा और सामर्थ के साथ करना चाहिए। परन्तु उसको (सच्चे परमेश्वर) गृहणयोग्य आराधना उसने स्वयं निर्धारित की है, और उसकी प्रगट की गई इच्छा में सीमित है, कि उसकी आराधना मनुष्य की कल्पना और युक्ति के अनुसार और शैतान की सलाह के अनुसार नहीं होती, न ही अन्य कोई दिखाई देने वाले मूर्ति आकृति अथवा अन्य किसी प्रकार से, जो पवित्र शास्त्र में नहीं बतायी गयी के अनुसार होती है।
2. धार्मिक आराधना परमेश्वर पिता, परमेश्वर पुत्र और पवित्र आत्मा को दी जाती है। स्वर्गदूत, संत और अन्य किसी रचना को नहीं दी जाती, मनुष्य के पतन (पाप करने) के बाद बिना बिचवइये के, बिचवइया भी अन्य कोई नहीं वरन् एकमात्र यीशु के द्वारा ही आराधना प्रस्तुत की जाती है।
3. धन्यवाद के साथ प्रार्थना, धार्मिक आराधना का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जो परमेश्वर सभी मनुष्यों से चाहता है, और यह स्वीकार हो, इसके लिए यह पुत्र के नाम, पवित्र आत्मा की सहायता से, उसकी इच्छा के अनुसार, आदर, नम्रता, उत्साह, विश्वास, प्रेम और दृढ़ता के साथ समझ आने वाली भाषा में होनी चाहिए।

4. प्रार्थना न्यायसंगत बातों के लिये और सभी जीवित मनुष्यों के लिये, अथवा जो आने वाले समय में होंगे की जाती है। प्रार्थना मृतकों के लिए नहीं, न ही उनके लिए जिनके विषय में ज्ञात हो कि उन्होंने पाप किया है, पाप मृत्यु के लिये, नहीं की जाती है।
5. परमेश्वर के वचन को उसके भय में पढ़ना, वचन का उचित प्रचार और उसका सुनना, परमेश्वर के प्रति आज्ञाकारिता, समझ, विश्वास और आदर के साथ भजन को हृदय में अनुग्रह के साथ गाया जाना, और संस्कार का उचित प्रबन्धन (दिया जाना) और स्वीकार किया जाना, जो मसीह ने निर्धारित किया, ये सभी परमेश्वर की साधारण धार्मिक आराधना के हिस्से हैं। धार्मिक शपथ, प्रतिज्ञा, सच्चा उपवास और विशेष अवसर पर धन्यवाद, जो कई समय और मौसम में, पवित्र और धार्मिक प्रकार से आराधना के लिये इस्तेमाल किये जाते हैं।
6. न प्रार्थना, न धार्मिक आराधना का अन्य कोई हिस्सा-अब सुसमाचार के अंतर्गत, स्थान जहाँ पर यह की जाती है, के आधार ज्यादा ग्रहण योग्य नहीं होती, न ही उस तरफ जिधर यह निर्देशित होती है, के आधार पर। परंतु परमेश्वर की आराधना हर जगह आत्मा और सच्चाई से की जा सकती है। व्यक्तिगत परिवार में रोजाना, हर एक गुप्त में स्वयं और ज्यादा गम्भीरता, सच्चाई से सामूहिक सभाओं में, जो असावधानी और जानबूझकर अनदेखा और छोड़ी नहीं जा सकती, जबकि परमेश्वर अपने वचन और कृपा दृष्टि से इस आराधना के लिये बुलाता है।
7. प्रकृति का नियम है कि साधारणतः जो समय परमेश्वर का है, उसकी आराधना के लिये अलग करना है, उसके वचन में सकारात्मक, नैतिक और चिरस्थायी आज्ञाएँ सभी काल के मनुष्यों को इकट्ठा करती हैं। उसने विशेषकर एक दिन सात दिनों में से विश्राम के लिये, नियुक्त किया है, कि उसे परमेश्वर के लिए पवित्र माना जाये, जिसे संसार के शुरुआत से यीशु मसीह के पुनरुत्थान तक, सप्ताह का अन्तिम दिन विश्राम दिन माना गया, यीशु मसीह के पुनरुत्थान से यह सप्ताह के पहले दिन में बदल गया, जिसे पवित्र शास्त्र में प्रभु का दिन कहा गया और संसार के अंत तक यह हमेशा, मसीहियों का विश्राम दिन है।
8. यह विश्राम दिन, प्रभु के लिए पवित्र माना/रखा जाये, जब मनुष्य अपने हृदय को तैयार करते हुए, अपने कार्य का पहले से प्रबन्ध कर ले, विश्राम दिन को सिर्फ पूरे दिन अपने काम, वचन और विचार, सांसारिक कार्य और मनोरंजन से पवित्र आराम के लिए ही पालन न करे, वरन् पूरे समय को सामूहिक और एकांत में उसकी आराधना और दया के अनिवार्य कर्तव्य में लगाएँ।

अध्याय 22

न्यायसंगत (उचित) शपथ और प्रतिज्ञा

1. न्यायसंगत शपथ धार्मिक आराधना का एक हिस्सा है, जिसमें उचित अवसर पर मनुष्य शपथ लेते हुए, परमेश्वर को साक्षी बनाता है, जो वह मांगता/अथवा जिसका वादा करता है, कि सच्चाई अथवा झूठ के अनुसार उसने जो शपथ खायी है परमेश्वर उसका न्याय करे।
2. परमेश्वर का नाम ही है, जिसकी मनुष्य शपथ लेता है। यह पवित्र, भय और आदर के साथ इस्तेमाल होना चाहिए। इसलिए व्यर्थ और जल्दबाजी में महिमामयुक्त और भय युक्त नाम की शपथ खाना, अथवा अन्य किसी बात में शपथ लेना, पाप और घृणित है। फिर भी शपथ का महत्व परमेश्वर के वचन से, नये और पुराने नियम/वसीयत के समय में होती है। इस प्रकार न्यायसंगत शपथ, न्याय संगत अधिकार से ली जाती है। ऐसे मामले में शपथ ली जा सकती है।
3. जो भी शपथ लेता है, उसे इसकी महत्वता और गम्भीरता के सही तरीके पर विचार करना चाहिए और इसमें से कुछ अलग न करते हुए, परंतु उसे पूर्णता सत्य में उत्साहित करना है। कोई मनुष्य अपने आप को शपथ से किसी भी बात के लिए मजबूर नहीं कर सकता, वरन् जो अच्छा और उचित है, और वह विश्वास करता है और वह इसे पूरा कर सकता है, करने का निश्चय करता है।
4. शपथ वचन के सरल और सामान्य ज्ञान में लेनी चाहिए। बिना दोहरे अर्थ और मानसिक आरक्षण के लेनी चाहिए। यह पाप को स्थान नहीं देती, परंतु कुछ भी जो पापयुक्त नहीं है, शपथ ली जा सकती है, यह कुछ करने को प्रेरित करती है। यद्यपि मनुष्य स्वयं को दुःख देता है। इसे तोड़ा नहीं जा सकता, यद्यपि पाखण्डी और नास्तिक इसे लेते हैं।
5. प्रतिज्ञा वायदा करने वाली शपथ के समान है और इसे धार्मिक सावधानी के साथ लेना चाहिए और विश्वास योग्यता के साथ पूरी करनी चाहिए।
6. प्रतिज्ञा किसी सृष्टि के प्राणी के साथ नहीं वरन् सिर्फ परमेश्वर के साथ करनी है। यह स्वीकार की जाये, इसके लिये इसे स्वेच्छा से, विश्वास में, कर्तव्य के विवेक से, जो दया पायी है, उसके प्रति धन्यवाद से करनी चाहिए अथवा वह पाने के लिये जो हम चाहते हैं, जिससे हम अपने आपको अनिवार्य कर्तव्य में बाँधते हैं, अथवा अन्य बातों में जब तक वे सही बातों में सहायक सिद्ध होते हैं।
7. कोई मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा न करे, जो परमेश्वर के वचन में मना की गयी हो, और जो परमेश्वर की आज्ञा के कर्तव्य में बाधा उत्पन्न करे, अथवा जो उसकी अपनी

सामर्थ्य में नहीं है। और जिसे पूरा करने के लिये उसके पास परमेश्वर की योग्यता का वादा नहीं है। इस सन्दर्भ में चिरस्थायी एक जीवन के लिए वैराग्य सम्बन्धी प्रतिज्ञा, गरीबी स्वीकारना, और निरन्तर अज्ञाकारिता, सिद्धता और परिपूर्णता से बहुत दूर/पीछे है। वे सब अन्धविश्वास और पापयुक्त जाल है, जिसमें किसी भी मसीही को अपने आपको उलझाना/फंसाना नहीं चाहिए।

अध्याय 23

नागरिकों का न्यायधीश

1. परमेश्वर संसार का सर्वोच्च स्वामी/प्रभु और राजा है, जिसने नागरिकों के न्यायधीशों का अपने नीचे, लोगों के ऊपर, अपनी महिमा और सामूहिक भलाई के लिये नियुक्त किया है और उन्हें तलवार की सामर्थ्य से सुसज्जित किया है, कि वे सुरक्षा और उत्साहित करे, उन्हें जो अच्छे हैं और बुराई करने वाले को दण्डित करे।
2. मसीहियों के लिये यह न्याय संगत है, कि वे जब बुलाये/चुने जाते हैं तो न्यायधीश के पद को स्वीकार करें और इसके अनुसार कार्य करें-जिसमें वे दया, न्याय और शांति को उस राष्ट्रमण्डल के कानून के अनुसार बनाये रखें और इसके लिए (नये नियम की आधीनता में) न्याय संगत रूप से न्याय और अनिवार्यता में ही युद्ध में संलग्न हो।
3. नागरिकों के न्यायाधीशों को यह नहीं समझना चाहिए, कि वे वचन और संस्कार का प्रबन्ध करें, अथवा उनके पास स्वर्ग के राज्य की चाबी की सामर्थ्य है, अथवा विश्वास के मामले में दखल देने का अधिकार है। फिर भी एक पिता जो बच्चे को संभालता है, के समान नागरिक के न्यायाधीशों का यह कर्तव्य है कि वे हमारे एकमात्र प्रभु की कलीसियों को सिद्धांतों की विविधता (denomination) के आधार पर भेदभाव न करते हुए सुरक्षा प्रदान करें, कि सभी कलीसिया के लोग आनन्द और स्वतंत्रता के साथ, पूर्ण आजादी में अपने पवित्र संस्कारों और कार्य को बिना भय और डर के पूरा कर सकें।

यीशु मसीह ने कलीसिया में नियम के अनुसार शासन प्रणाली और अनुशासन नियुक्त किया है इसलिए राष्ट्रमण्डल की कोई भी नियम/कानून इसमें दखलअन्दाजी न करें, न ही मसीही सम्प्रदाय के स्वेच्छित सदस्यों की, उनके विश्वास और उनकी मान्यता में कोई बाधा उत्पन्न करें।

यह न्यायाधीश का कर्तव्य है, कि वह लोगों और सभी लोगों के भले नाम के लिए, बड़े प्रभावी ढंग से, कि कोई व्यक्ति अपने धर्म के नाम और नास्तिकता के नाम पर दुःख न उठाए, ऐसी सुरक्षा प्रदान करें, और किसी अन्य व्यक्ति चाहे वह कोई

भी हो उसका अनादर, दुराचार और नुकसान और बुरा न हो। और इस बात की भी व्यवस्था करें, कि सभी धार्मिक और कलीसिया की सभाएं बिना छेड़खानी, दुर्व्यवहार और परेशानी के करायी जाएं।

4. यह लोगों का कर्तव्य है कि वे न्यायाधीशों के लिए प्रार्थना करें, उनका सम्मान करें, उनकी प्रशंसा (जिसके वो हकदार हों) करें, उनकी उचित आज्ञाओं को मानें और विवेक के लिए, उनके अधिकारों के आधीन रहे।

धार्मिक भावना का अभाव अथवा धर्म में अंतर, न्यायाधीशों की उचित और कानूनन अधिकार को समाप्त नहीं करता, न ही लोगों को, उनकी आज्ञा न मानने की स्वतंत्रता देता है, जिससे कलीसिया के लोग भी अलग नहीं है।

धर्माध्यक्ष के पास ऐसा अधिकार बहुत कम होता है, कि वह उनकी (न्यायाधीशों) और उनके लोगों की प्रभुता पर अधिकार रखें, वह उन्हें उनके नियन्त्रण और जीवन से वंचित करें, यदि वह उन्हें विधर्मी और पाखण्डी किसी भी बहाने से ठहराता/घोषित करता है यह उसका अधिकार नहीं।

अध्याय 24

विवाह और तलाक

1. विवाह एक पुरुष और एक स्त्री के बीच होना चाहिए। यह न्यायोचित नहीं है, कि एक पुरुष एक से ज्यादा पत्नी रखे, न ही कोई स्त्री एक से ज्यादा पति एक ही समय में रखे।
2. शादी पति और पत्नी को एक दूसरे (दोनों तरफ से) की मदद के लिये ठहरायी गयी कि मनुष्य उचित प्रकार से बढ़ सके और कलीसिया, पवित्र बीज (वंशज) में बढ़े और गन्दगी को रोका जा सके।
3. यह सभी लोगों के लिये, जो अपनी इच्छा से अपनी राय देने योग्य हैं, को शादी करनी चाहिए। फिर भी यह हर एक मसीही का कर्तव्य है कि वह प्रभु में (मसीही) से शादी करें। इसलिए जो सत्यता से नये (मसीही) धर्म में विश्वास करते हैं, उन्हें नास्तिक अथवा अन्य मूर्तिपूजक से विवाह नहीं करना चाहिए, न ही जो धर्म परायण (विश्वासी) हैं, अथवा किसी से जो अपने जीवन में बदनाम, कुख्यात, दुष्ट हैं और नाशवान शिक्षा पर विश्वास करते हैं, से शादी करके असमान जुए में न फंसे।
4. विवाह एक ही पूर्वज के संतानों और रिश्तेदारों के बीच मध्य नहीं होना चाहिए, जैसा कि वचन में मना किया गया है। न ही पारिवारिक सम्बन्धियों (भाई, बहन, cousin) की आपस में शादी भी, किसी मनुष्य की व्यवस्था और लोगों की हैं।

से न्यायोचित नहीं ठहरती, जबकि वे लोग एक साथ पुरुष और पत्नी की तरह रहते हैं।

5. शादी के समझौते के बाद शादी से पहले व्यभिचार का पता चलना सही लोगों को उचित वजह प्रदान करती है, कि वे शादी के समझौते को रद्द कर दे। व्यभिचार शादी के बाद की स्थिति में न्याय संगत है, कि जो सही है, वह तलाक ले ले और तलाक के बाद यदि दोषी मर जाता है/जाती है तो दूसरा विवाह कर सकता है।
6. यद्यपि मनुष्य का पाप इस प्रकार का है कि यह उचित है कि इसके विवाद का अधिक अध्ययन हो, कि जिसे परमेश्वर ने जोड़ा है उन्हें अलग करना अनुचित है, फिर भी कुछ नहीं वरन व्यभिचार के आधार पर इच्छा से त्याग/छोड़ देना कलीसिया की तरफ से कोई समाधान नहीं है, न ही न्यायाधीश की तरफ से शादी के बंधन को समाप्त करने के लिए पर्याप्त वजह है। इसे सामूहिक और नियमानुसार प्रगट करना है और जो व्यक्ति इससे सम्बन्ध रखता है, अपनी इच्छा और समझ में अपने हालात में नहीं छोड़ा जाता।

अध्याय 25

कलीसिया

1. विश्वव्याप्त अथवा व्यापक कलीसियों जो अदृश्य हैं, और सभी चुने हुएों की पूर्ण संख्या में बनती है। जिन्हें एक में इकट्ठा किया गया/किये जाते और किये जाएंगे, मसीह, मुखिया की आधीनता में जिसकी कलीसिया पत्नी व शरीर है मसीह की परिपूर्णता सभी में व्याप्त है।
2. सदृश्य कलीसिया भी, जो सुसमाचार के अंतर्गत विश्वव्याप्त और व्यापक है, (सिर्फ एक देश के रूप में नहीं जैसा व्यवस्था के समय में था) जो संसार के सभी लोग जो इस सच्चे (विश्वास) धर्म को मानते हैं, और उनके बच्चों को मिलाकर बनती है और यह प्रभु यीशु मसीह का राज्य, परमेश्वर का घर और परिवार है, जिसके अलावा कहीं भी उद्धार की संभावना नहीं है।
3. इस विश्वव्याप्त कलीसिया को यीशु मसीह ने सेवा, अपना वचन (भविष्यवाणी) और परमेश्वर की धार्मिक नीतियां दी है, कि जगत के अंत तक इस जीवन में संतों को इकट्ठा और सिद्ध किया जाए और वह यह कार्य अपनी आत्मा की सामर्थ, उपस्थिति और अपने वायदे के अनुसार उनमें (विश्वासी) प्रभावी करता है।
4. विश्वव्याप्त कलीसिया कभी कम, कभी ज्यादा दिखाई देती है, और विशेष

कलीसिया, जो विश्वव्यापक कलीसिया की सदस्य है, कम और ज्यादा शुद्ध है, उस सुसमाचार के सिद्धान्त के अनुसार, जिसे सिखाया जाता और अपनाया जाता है और धार्मिक अनुष्ठान के प्रबंधन के अनुसार, सामूहिक आराधना ज्यादा और कम शुद्धता से उनमें की जाती है।

5. स्वर्ग के नीचे शुद्ध कलीसियाएं, मिश्रण और खामियों के आधीन है। कुछ कलीसियाएं तो इतनी पतित हो गयी हैं, कि वे मसीह की कलीसिया नहीं रही वरन् शैतान की आराधनालय है, फिर भी पृथ्वी पर हमेशा एक कलीसिया रहेगी, जो परमेश्वर की आराधना उसकी इच्छा के अनुसार करती रहेगी।
6. यीशु मसीह के अतिरिक्त कोई भी कलीसिया का मुखिया (सर्वोच्च) नहीं है। इसलिए रोम का धर्माध्यक्ष किसी भी प्रकार से कलीसिया का मुखिया नहीं है।

अध्याय 26

संतों की सहभागिता (संगति)

1. सभी संत, यीशु मसीह, उनके सिर (मुखिया) से जुड़े हैं, उसकी आत्मा और विश्वास से वे उसके साथ, उसके अनुग्रह, दुःख, मृत्यु, पुनरुत्थान और महिमा में सहभागी होते हैं, और एक दूसरे के साथ प्रेम में एक (जुड़ते) हो जाते हैं। वे एक दूसरे के वरदान में और अनुग्रह में संगति रखते हैं, और सामूहिक और व्यक्तिगत फर्ज पूरा करने के लिए एक दूसरे के प्रति दायित्व को पूरा करते हैं, इससे आन्तरिक और बाहरी मनुष्यत्व दोनों में पारम्परिक भलाई के लिए उनकी मदद होती है।
2. संत अपने कर्तव्य से बाध्य होते हैं, कि परमेश्वर की आराधना में पवित्र सहभागिता और संगति बनाये रखे और इस प्रकार और दूसरी आत्मिक सेवाओं से उनका पारम्परिक आत्मिक विकास होता है, और एक दूसरे की बाहरी बातों में उनकी कई योग्यताओं और जरूरत के अनुसार कार्य भार संभालते हैं। यह संगति जब परमेश्वर अवसर प्रस्तुत करता है तो उन सभी को, सभी जगह पर जो यीशु मसीह का नाम लेते हैं, पहुँचायी जाती है।
3. संगति, जो संत मसीह के साथ रखते हैं। उन्हें किसी प्रकार से यीशु के ईश्वरत्व में बुद्धिमान, शामिल होने वाले नहीं बनाती, न ही किसी भी तरह मसीह के समान करती है। ऐसा कुछ भी मानना अनादरपूर्ण, बुरा और निन्दा योग्य है। न ही उनकी एक दूसरे के साथ संगति किसी व्यक्ति का शीर्षक, चीजों और सम्पत्ति के स्वामित्व को अलग करती और छीनती है।

अध्याय 27

संस्कार

1. संस्कार अनुग्रह की वाचा, के पवित्र चिन्ह और मोहर (गारन्टी) है। जो परमेश्वर द्वारा स्थापित होते हैं कि मसीह और उसके फायदे को प्रस्तुत करे और हमारी रुचि उसमें पक्की करते हैं, और हममें जो कलीसिया के हैं, और बचे हुए संसार में दिखाई देने वाले अन्तर को प्रगट करते हैं और सच्चाई से उन्हें/हमें परमेश्वर के वचन के अनुसार मसीह में परमेश्वर की सेवा में संलग्न करते हैं।
2. हर एक संस्कार का एक आत्मिक सम्बन्ध (अर्थ) होता है, अथवा चिन्ह और उसके अर्थ में संस्कारी एकता होती है और जब यह पूरा होता है, तब एक के नाम और प्रभाव का श्रेय दूसरे को दिया जाता है।
3. वह अनुग्रह जो संस्कार के सही इस्तेमाल में अथवा द्वारा प्रगट होता है, उनकी अपनी सामर्थ से प्रदान नहीं होता, न ही संस्कार का प्रभाव देने वाले की ईश्वर भक्ति/पवित्रता और इच्छा पर आश्रित होता है। परंतु आत्मा के कार्य, वचन, उपदेश, अधिकार, इनके इस्तेमाल और फायदे का वादा, संस्कार उचित प्रकार से लेने वालों पर आश्रित है।
4. सुसमाचार में प्रभु यीशु मसीह के द्वारा सिर्फ दो संस्कार नियुक्त किये गये हैं। जो बपतिस्मा और प्रभु भोज है। इनमें से कोई भी किसी के द्वारा नहीं दिया जा सकता, परंतु वचन के सेवक के द्वारा जिसे न्यायसंगत नियुक्त किया गया हो।
5. पुराने नियम के संस्कार, आत्मिक बातों/अर्थों में नये नियम के संस्कार के गुणों में एक समान थे, उनके चिन्ह, अर्थ और प्रगटीकरण में।

अध्याय 28

बपतिस्मा

1. बपतिस्मा नये नियम का संस्कार है, जो यीशु मसीह द्वारा नियुक्त किया गया, सिर्फ उनके लिए ही नहीं, जो इसे सच्चाई से लेकर दिखाई देने वाली कलीसिया में शामिल होते हैं। वरन् उनके लिये यह अनुग्रह की वाचा का चिन्ह और मोहर भी है, कि ये मसीह में जोड़े गये, नये जीवन पाये, पापों की क्षमा और यीशु मसीह द्वारा परमेश्वर को दिये गये हैं कि वे नये जीवन की चाल चलें। यह संस्कार जो मसीह ने नियुक्त किया, जो उसकी कलीसिया में निरन्तर संसार के अंत तक बना रहेगा।
2. बाहरी तत्व जो इस संस्कार में इस्तेमाल होता है, पानी है जिसमें बपतिस्मा पिता, पुत्र

और पवित्र आत्मा के नाम में, न्याय संगत बुलाये गये सुसमाचार के सेवक द्वारा दिया जाता है।

3. व्यक्ति को पानी में डुबकी लगाना अनिवार्य नहीं है, वरन् पानी व्यक्ति पर डालकर अथवा छिड़क कर सही प्रकार से बपतिस्मा दिया जाता है।
4. सिर्फ वे ही नहीं, जो अपने मुँह से विश्वास में मसीह की आज्ञाकारिता अंगीकार करते हैं, वरन् विश्वास करने वाले माता पिता के बच्चों को भी बपतिस्मा दिया जाता है।
5. यद्यपि इस संस्कार का तिरस्कार अथवा अनदेखी करना एक बड़ा पाप है। फिर भी अनुग्रह और उद्धार इससे अविभाजित हो न सके ऐसे जुड़े नहीं हैं, कि कोई भी व्यक्ति इनके बिना उद्धार अथवा नया जीवन नहीं पा सकता, अथवा जो बपतिस्मा लिए हुए हैं। बिना सन्देह के नया जीवन प्राप्त करते हैं ऐसा नहीं है।
6. बपतिस्मा का प्रभाव उसी समय लागू हो, जब इसे दिया जाता है ऐसा जरूरी नहीं है। फिर भी सही प्रकार से इस धार्मिक अनुष्ठान के इस्तेमाल पर, वायदा किया हुआ अनुग्रह प्रस्तुत किया जाता है, वरन् वास्तव में प्रगट किया जाता है और पवित्र आत्मा के द्वारा (बड़े अथवा बच्चों) दिया जाता है। यह अनुग्रह परमेश्वर की स्वतंत्र और स्वेच्छा की इच्छा के अनुसार उसके नियुक्त समय पर उन्हें मिलता है।
7. बपतिस्मा का संस्कार किसी भी व्यक्ति को सिर्फ एक बार दिया जाता है।

अध्याय 29

प्रभु भोज

1. हमारा प्रभु यीशु जिस रात पकड़वाया गया, उसने अपने शरीर और लहू के संस्कार को स्थापित किया, जिसे प्रभु भोज कहा गया, कि यह संसार के अंत तक कलीसिया में लगातार उसकी मृत्यु में, उसके स्वयं के बलिदान को याद करते हुए मनाया जाना है, जो इस बात का प्रतीक है, उसके सारे फायदे, सच्चे विश्वासियों के लिए, यीशु में आत्मिक पोषण और उन्नति के लिए और उन सभी कार्यों में लगे रहने के लिए हैं, जो उसके (यीशु) हैं, कि वे यीशु के साथ और एक दूसरे के साथ संगति में बंध जाए, उसके शरीर के सदस्यों के समान।
2. इस संस्कार में मसीह ने अपने आपको पिता को अपर्ण नहीं किया, न ही जीवित और मृतकों के पापों का प्रायश्चित्त/छुटकारों के लिए वास्तविक बलिदान दिया, वरन् यह उसके अपने आपको, अपने आपसे, एक बार सभी के लिए क्रूस पर बलिदान दिया, की स्मृति/याद करने का साधन (माध्यम) है, और परमेश्वर की सभी सम्भावित स्तुति का आत्मिक बलिदान/चढ़ावा है। इसलिए लोगों का Popish

बलिदान अति घृणित हानिकारक है क्योंकि मसीह का बलिदान ही चुने हुए के पापों का एकमात्र प्रायश्चित है।

3. यीशु मसीह ने इस अधिनियम में अपने सेवकों को नियुक्त किया, कि वे उसके नियुक्त के वचन लोगों में घोषित करें, रोटी और दाखरस के लिए प्रार्थना कर आशीषित करें, और उन्हें साधारण से पवित्र इस्तेमाल के लिए अलग करें, रोटी लेकर उसे तोड़ें, प्याले को लें। (वे स्वयं भी सम्मिलित हो) और दोनों को, सम्मिलित/(लेने आये) होने वालों को दें, परंतु जो उस समय सभा में उपस्थित न हो, उन्हें न दें।
4. एकान्त में लोगों, अथवा एक याजक से संस्कार स्वीकार करना, या अन्य किसी से, उसी प्रकार कप लोगों को न देना, इसकी आराधना करना और ऊँचा उठाना, प्रशंसा के लिए साथ में ले जाना, धार्मिक इस्तेमाल के लिए सुरक्षित रखना, सभी संस्कार के स्वभाव के और यीशु मसीह की ठहराये गये तरीके के विपरीत है।
5. इस संस्कार में बाहरी तत्व सही प्रकार से यीशु द्वारा ठहराये गये इस्तेमाल के लिए अलग किये जाते हैं। इनका क्रूस पर चढ़ाये गये यीशु से कुछ इस प्रकार का सम्बन्ध होता है, वास्तविक फिर भी सिर्फ संस्कारी, कई बार ये उस नाम से पुकारे जाते हैं जिनका ये प्रतिनिधित्व करते हैं, कि यीशु मसीह के शरीर और लहू को समझा जा सके, यद्यपि अपने तत्व (गुणों) और स्वभाव में ये रोटी और दाखरस ही, पहले के समान रहते हैं।
6. वह शिक्षा (सिद्धान्त) जो मानती है, कि रोटी और दाखरस के तत्व याजक के पवित्र करने, अथवा अन्य किसी प्रकार से, मसीह के शरीर और लहू में बदल जाते हैं। यह सिर्फ पवित्र शास्त्र के लिए ही घृणित नहीं, वरन् साधारण ज्ञान और तर्क के लिए भी निराशाजनक है। यह संस्कार के स्वभाव को अलग करता और कई प्रकार के अन्धविश्वास का कारण और मूर्ति पूजा को स्वीकार करता है।
7. इस संस्कार के बाहरी तत्व को स्वीकार करने वाले, इस संस्कार से विश्वास में आन्तरिक, वास्तव में यद्यपि सांसारिक और शारीरिक नहीं, वरन् आत्मिक रीति से क्रूस पर चढ़ाये गये यीशु की मृत्यु और उसके सभी लाभों को स्वीकारते और उससे तृप्त होते हैं। रोटी और दाखरस के साथ और आधीनता में, प्रभु यीशु का शरीर और रक्त सांसारिक और शारीरिक नहीं होता, फिर भी सत्यता में वरन् आत्मिकता से इस अनुष्ठान (अधिनियम) में विश्वासियों के विश्वास को प्राप्त होता है। जैसे तत्व अपने आप में उनकी बाहरी अनुभूति है।
8. यद्यपि अज्ञानी और दुष्ट/पापी मनुष्य इस संस्कार में बाहरी तत्व (रोटी और दाखरस)

को स्वीकार करते हैं, फिर वे इसमें प्रदर्शित बात को स्वीकार नहीं कर पाते, वरन् इसे गलत रीति से लेने के द्वारा, प्रभु के शरीर और रक्त का दोष और अपना स्वयं का अभिशाप अपने ऊपर लाते हैं। इसलिए सभी अज्ञानी और दुष्ट मनुष्य जिस प्रकार वे उसकी संगति के योग्य नहीं हैं, वैसे ही वे प्रभु की मेज में अयोग्य हैं, जबकि वे इस पवित्र संस्कार में शामिल और स्वीकार किये जाते हैं तो यह मसीह के विरुद्ध घोर, घृणित, पाप है।

अध्याय 30

कलीसिया में अनुशासन (Of Church Censures)

1. यीशु मसीह कलीसिया का मुखिया और राजा है, जिसने कलीसिया के अधिकारियों के हाथों से कलीसिया की शासन प्रणाली नियुक्त की है, जो नागरिकों के न्यायधीश से अलग है।
2. इन अधिकारियों को स्वर्ग के राज्य की चाबियां सौंपी गई हैं, जिनके द्वारा उनके पास सामर्थ्य है, कि पाप को याद रखें और क्षमा कर दें, और परमेश्वर के राज्य को पश्चाताप न करने वाले के विरुद्ध बन्द कर दें, बन्धन और दोष लगाकर दोनों प्रकार से; और पश्चातापी पापी के लिए इसे खोल दें, सुसमाचार की सेविकाई और अवसर के अनुसार दोष मुक्त करके।
3. कलीसिया में अनुशासन अनिवार्य है, कि दोषी भाइयों को फिर से वापस लाया और जीता जा सके और दूसरों को उसी प्रकार की बुराई में पड़ने से रोका जाए और खमीर को शुद्ध किया जाए, कहीं ऐसा न हो कि वह पूरे ढेर को प्रभावित (दूषित) कर दे, ऐसा मसीह के सम्मान की महिमा के लिए, और सुसमाचार के पवित्र कार्य के लिए, परमेश्वर के क्रोध जो कलीसिया पर उचित रीति से आ सकता है, से बचने के लिए अनिवार्य है। यदि वे परमेश्वर की वाचा को तोड़ते (दुःखी करते) और उसकी मोहर को नुकसान पहुँचाते हैं, तो बुराई और हठ से दोषी और अधर्मी ठहरते हैं।
4. इसे अच्छी प्रकार से प्राप्त करने के लिए, चर्च के अधिकारियों को, उन्हें प्रभु भोज के संस्कार से कुछ समय के लिए निष्काषित और कलीसिया से उनके पाप के स्वभाव और दोष के अनुसार बहिष्कृत करना चाहिए।

अध्याय 31

कलीसिया की प्रबन्धन समिति

1. कलीसिया के अच्छे शासन और अधिक उन्नति के लिये कलीसिया में ऐसी सभा

होनी चाहिए जिन्हें Synod अथवा समिति कहा जाए। यह समिति किसी कलीसिया के देखभाल (निरीक्षक) करने वाले और अन्य अधिकारियों की होनी चाहिए। वे अपने पद के गुणों और सामर्थ, जो मसीह ने उन्हें उन्नति, विकास के लिये, न कि विनाश के लिये दिये हैं, इस प्रकार समिति नियुक्त करनी चाहिए, और उन्हें जितनी बार उचित लगे विचार विमर्श के लिए इकट्ठा होकर कलीसिया की भलाई के लिए कार्य करने चाहिए।

2. यह समिति के अधिकार में है, कि वह सेवाभाव से विश्वास के विवाद को और विवेक को निर्धारित करे, परमेश्वर की सामूहिक आराधना की उचित व्यवस्था के लिए नियम और नियन्त्रण निर्धारित करे, और कलीसिया का प्रबन्धन करे, गलत प्रबन्धन के विषय में शिकायत स्वीकार करे और अधिकार से उसका निर्धारण करें। यदि परमेश्वर के वचन अनुरूप सामंजस्य, आदर और समर्पण स्वीकार करना है सिर्फ उनका वचन के साथ सहमत होना ही नहीं, वरन् अधिकार जिसके लिए उन्हें बनाया गया है, परमेश्वर के अधिनियम के स्वरूप में जिसे उसने अपने वचन में नियुक्त किया है।
3. सभी समितियां प्रेरितों के समय से ही गलती करने योग्य है और बहुतों ने गलती की है। इसलिए इन समितियों को विश्वास और कार्य का नियम/आधार नहीं बना सकते, वरन् इस विषय में उन्हें सहायक के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।
4. समिति को कलीसिया के अतिरिक्त अन्य बातों, विवादों में निष्कर्ष नहीं देना चाहिए और न ही नागरिकों के झमेले में पड़ना चाहिए, जो कि राष्ट्रमण्डल (देश के नियम) का काम है। फिर भी ये (समिति) अप्राकृतिक मामलों में नम्र निवेदन कर सकते अथवा विवेक की संतुष्टि के लिए सलाह दे सकते हैं। यदि नागरिक न्यायाधीश उनसे (समिति) सलाह मांगते हैं।

अध्याय 32

मृत्यु के पश्चात् मनुष्य की स्थिति और मृतकों का पुनरुत्थान

1. मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का शरीर मिट्टी में मिलकर नष्ट हो जाता है, परन्तु उनकी आत्मा, जो न मरती है, न सोती है, जो अविनाशी है, परमेश्वर के पास वापस चली जाती है जिसने उसे दिया था, तब धर्मी की आत्मा पवित्रता में सिद्ध होकर ऊँचे स्वर्ग में जाती है, जहाँ वे परमेश्वर के सम्मुख प्रकाश और महिमा में रहकर अपने शरीर के पूर्ण छुटकारे का इन्तजार करती है, और अधर्मी की आत्मा (मृत्यु के पश्चात्) नरक में जहाँ वे घोर यातना सहती और पूर्ण अन्धकार में रहते हुए, न्याय के दिन

के लिये तड़फती रहती है। शरीर से आत्मा अलग होने के बाद, पवित्र शास्त्र इन दो स्थानों के अलावा अन्य स्थान के बारे में कुछ नहीं बताता।

2. अन्तिम दिन जो जीवित है, वे मृत्यु नहीं देखेंगे, वरन् वे परिवर्तित किए जाएंगे और मृतक उसी शरीर (यद्यपि फर्क गुणों) के साथ जिलाए जाएंगे, जो फिर से अपनी आत्मा के साथ हमेशा के लिए जोड़ दिये जायेंगे।
3. अधर्मियों के शरीर यीशु की सामर्थ से अनादर के लिए जिलाए जायेंगे, धर्मियों के शरीर उसकी आत्मा से, महिमा और उसकी अपनी महिमायुक्त शरीर के साथ सुख/आराम के लिए जिलाए जाएंगे।

अध्याय 33

अन्तिम न्याय

1. यीशु मसीह के द्वारा, जिसे पिता ने न्याय करने का सारा अधिकार दिया है। परमेश्वर ने एक दिन नियुक्त किया, जिस दिन वह धार्मिकता से यीशु मसीह द्वारा संसार का न्याय करेगा। उस दिन वह सिर्फ त्यागे हुए स्वर्गदूत का न्याय ही नहीं करेगा, वरन् वे सभी लोग जो पृथ्वी पर हुए हैं, यीशु मसीह के न्याय के सिंहासन के सामने अपने विचार शब्द, और कार्यों का हिसाब देने के लिए उपस्थित होंगे और जो कुछ उन्होंने अच्छा अथवा बुरा किया है, के अनुसार प्रतिफल प्राप्त करेंगे।
2. परमेश्वर का इस दिन को ठहराने का उद्देश्य है, कि वह चुने हुए के अनन्त उद्धार में अपनी दया की महिमा प्रगट करे और जो अधर्मी और अनाज्ञाकारी हैं, पापियों को नरक यातना देने में अपना न्याय प्रगट करे। तब जो धर्मी है अनन्तकाल का जीवन पाएंगे और भरपूरी का आनन्द और ताजगी जो प्रभु की उपस्थिति में मिलती है पायेंगे, परन्तु अधर्मी जो परमेश्वर को नहीं जानते और यीशु के सुसमाचार को नहीं मानते, अनन्तकाल की यातना में भेजे जाएंगे और परमेश्वर की उपस्थिति और उसकी सामर्थ की महिमा से सदा के लिए दूर किये जाएंगे।
3. जैसा कि मसीह ने हमको निश्चयता के साथ न्याय के दिन के विषय में बताया है, कि सभी मनुष्य को पाप करने से रोकें और अपने लोगों को संकट के समय शांति प्रदान करें, इसलिए उसने इस दिन को मनुष्य से अज्ञात रखा है, कि वे सारी सांसारिक सुरक्षा का त्याग करके हमेशा तैयार रहे, क्योंकि वे नहीं जानते कब प्रभु आ जाएगा, और हमेशा तैयार रहें कि कह सके यीशु मसीह आ, जल्दी आ-आमीन।

